इकाई 28 सामाजिक भेदभाव और प्रवंचित समूह

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- भारत के विभिन्न भागों में सामाजिक भेदभाव के विविध रूपों की जानकारी कर पाएंगे;
- विद्यमान समाज व्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन के प्रभाव और इसमें आए परिवर्तनों की प्रक्रिया को समझा सकेंगे;
- प्रवंचित समूहों के बीच नवीन चेतना के विकास और विद्यमान समाज व्यवस्था को बदलने के लिए उनके प्रयास को स्पष्ट कर सकेंगे।

28.1 प्रस्तावना

जाति व्यवस्था पर आधारित होने के कारण भारतीय समाज ने विभिन्न प्रकार के सामाजिक भेदभावों को जन्म दिया और विशेषाधिकार प्राप्त एवं प्रवंचित, दो बड़ी सामाजिक श्रेणियों की रचना की। इस इकाई में हमने भारत के विभिन्न भागों में सामाजिक भेदभाव के विविध रूपों और प्रवंचित जनसमूहों से आपका परिचय कराने का प्रयास किया है। औपनिवेशिक शासन के बहुत पहले से ही भारत में सामाजिक भेदभाव का अस्तित्व था। लेकिन औपनिवेशिक शासन की स्थापना ने आर्थिक एवं प्रशासनिक ढांचे में परिवर्तन किए जिसने बड़ी सीमा तक भारत में विद्यमान समाज व्यवस्था को प्रभावित किया। किस प्रकार और किस सीमा तक भारतीय समाजव्यवस्था में परिवर्तन हुए, इस इकाई में इसका विवेचन किया गया है। यहां हमने निचली तथा मझोली जातियों के बीच सामाजिक संतरण की प्रक्रिया और समाज में युगों पुराने ब्राह्मण वर्चस्व को किन्हीं प्रवंचित समूहों से मिलने वाली चुनौतियों पर भी विचार किया है।

28.2 उपनिवेश-पूर्व सामाजिक भेदभाव तथा औपनिवेशिक प्रभाव

इसमें संदेह नहीं कि सामाजिक भेदभाव से उपजे सामाजिक पिछड़ेपन और प्रवंचन का इतिहास उपनिवेशवाद से भी पहले का है। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत निश्चित पदानुक्रम, प्रकार्यों और विभेदों के साथ समाज का श्रेणी क्रमबद्ध विभाजन ऐसा ढांचा बनाता था, जिससे

आर्थिक एवं रीतिगत संबंधों का नियमन होता था। आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करने पर जातियां वंशानुगत, अवरुद्ध आजीविका समूहों के रूप में सामने आती हैं और इसका संबंध होड़ खत्म करने और सेवायोजन एवं आय को सुनिश्चित बनाने के प्रयासों से देखा जा सकता है। इस श्रेणी क्रमबद्ध ढांचे के अंतर्गत ऊपर उठना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य था। इस श्रेणी क्रमबद्ध व्यवस्था के अंतर्गत दो निश्चित बिंदु आत्यंतिक स्थितियां इंगित करते थे: एक छोर पर ब्राह्मण थे और दूसरे पर अछूत। अधिकांश उपेक्षित जनसमूहों का संबंध निचली पंक्ति से था और वे जटिल स्थितियों में जीने के लिए बाध्य थे।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उपनिवेशवादी शासन का प्रभाव प्रत्यक्ष होने तक सामाजिक स्थिति बहुत कुछ शिथिल हो चुकी थी, लेकिन सामाजिक भेदभाव के विलोपन की सीमा तक नहीं। लेकिन जैसे-जैसे भारत पूंजीवादी विश्व-अर्थतंत्र का औपनिवेशिक उपांग बनता गया, नए आर्थिक संबंध उभर कर आने लगे। अनौद्योगीकरण की नीति ने देहाती दस्तकारों को उनके खानदानी पेशों से वंचित कर दिया और कालक्रम में ग्रामीण स्तर पर आर्थिक संगठन की अ-प्रतिस्पर्धी एवं वंशानुगत व्यवस्था का आधार कमज़ोर बना दिया। नौकरी-पेशा जातियों के लिए जजमानी व्यवस्था की तरह ही अपना भुगतान पाना कठिन हो गया। राजस्व-संग्रह बढ़ाने के प्रयास में कंपनी ने निःशुल्क भू-व्यवस्थाओं के विभिन्न रूप अपनाए जिनके फलस्वरूप उन पर निर्भर नौकरीपेशा समूह निर्धन बनते गए। कानून और अदालतों द्वारा लागू होने वाले अनुबंधों पर ज़ोर दिए जाने का परिणाम था कि नई व्यवस्था तक पहुंच रखने वाले व्यक्ति ही समाज में अपनी स्थिति सुदृढ़ बना सकते थे। इस प्रकार, औपनिवेशिक शासन ने अनेक अधीनस्थ सामाजिक समूहों को जीविका-साधनों से वंचित कर दिया और कालक्रम में उनमें से कुछ को "अपराधी जातियों" के स्तर तक गिरा दिया। लेकिन इसके साथ ही सामाजिक संगठन के पुराने आर्थिक आधार को कमज़ोर करते हुए औपनिवेशिक शासन ने अधिक गतिशीलता की दिशा में पहले से बढ़ रही प्रवृत्ति को और प्रबल बनाया। इसने परोक्ष रूप से भविष्य में निचली जातियों द्वारा विरोध-आंदोलन का विकास भी संभव बनाया। एक ओर तो ग्रामीण अभिजात समुदाय के अनुकूल तत्वों का सफलता के साथ अंग्रेज़ी राजस्व व्यवस्था के अंतर्गत समायोजन कर लिया गया था, दूसरी ओर किलों को ध्वस्त करके तथा स्थानीय सैन्य टुकड़ियों को भंग करके दुराग्रही तत्वों को निःशक्त कर दिया गया था। कालांतर में भारत के विभिन्न भागों के प्रभुत्वशाली समूहों ने औपनिवेशिक शासन के सांस्थानिक ढांचे के छल-प्रयोग से अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली।

28.3 क्षेत्रीय विभिन्नताएं : दक्षिणी भारत

तो फिर सामाजिक भेदभाव के शिकार अधीनस्थ समूहों की स्थिति क्या थी? उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भेदभाव की प्रकृति एक से दूसरे क्षेत्र में भिन्न मिलती थी। मद्रास प्रेसिडेंसी के अधिकांश भागों में निचली जातियों के समूहों से आए खेतिहर मज़दूर लगभग गुलामी की स्थिति में ढेल दिए गए थे। मद्रास बोर्ड ऑफ रेवेन्यू (1818) द्वारा किए गए खेतिहर मज़दूरों की दशा से संबंधित पहले प्रमुख सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट होती है। मद्रास प्रेसिडेंसी तीन बड़े इलाकों में विभाजित थी। इनमें से तेलुगु क्षेत्र बंधुआ प्रथा से अपेक्षाकृत मुक्त था। लेकिन तमिल क्षेत्र, विशेषकर नम इलाकों में, और मालाबार एवं कनारा क्षेत्रों में अधिसंख्य मज़दूरों को बंधुआ स्थिति में जीना पड़ता था। चिंगलपेट और तंजौर जैसे ज़िलों के अंतर्गत पल्लन अथवा परैयन कही जाने वाली अछूत जातियों की दशा सचमुच शोचनीय थी। इन स्थानों पर अंग्रेज़ी कानून व्यवस्था ने पुरानी हिंदू संस्थाओं को और मज़बूत ही बनाया था, किन्हीं उच्च जातियों की सत्ता एवं प्रभाव को नई जीवन शक्ति देते हुए। ब्राह्मण भूस्वामियों का एक समूह, अपने जातिगत नियमों के अनुसार किसी भी प्रकार के भौतिक श्रम में नहीं लगता था। लेकिन वह अपनी भूमि काश्तकारों को देता था या जो कार्य को स्वयं नहीं कर सकते थे, उनके लिए उजरती श्रमिक नियुक्त करता था। इस समूची व्यवस्था में दिलचस्प बात यह थी कि इतिहासकारों द्वारा कृषि-दासता के रूप में, विश्लेषित तथ्य को जाति व्यवस्था का समर्थन प्राप्त था। इसी प्रकार, तमिलनाडु के परैयन के समान सामाजिक स्थिति वाले मालाबार क्षेत्र के चेरूमन के साथ विशेष रूप से दासों जैसा बर्ताव किया जाता था। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में अपनी यात्राओं के दौरान बुकानन ने पाया कि खेती संबंधित अधिकांश कार्य चेरूमन दास ही करते थे। वे बेचे, बंधक रखे और भाड़े पर दिए जा सकते थे। मालाबार से कनारा की ओर बढ़ने पर बुकानन को वैसी ही बदहाली मिली।

निचली जातियों के लोग अक्सर अपने जवान रिश्तेदारों को कर्जों के बदले गुलामों के रूप में बेच देते थे। संक्षेप, में दक्षिणी भारत से संबंधित उपलब्ध साक्ष्य यही पुष्टि करते हैं कि उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में कृषि दासता काफी दूर तक फैली हुई थी।

कृषि क्षेत्र से बाहर के कुछ अर्धनिम्न समूहों से संबंधित विशेष अध्ययन सामाजिक भेदभाव की वैसी ही प्रक्रिया का प्रभाव दर्शाते हैं। तमिलनाडु के नाडार से संबंधित हाल के सर्वेक्षण से पता चलता है कि 19वीं सदी के आरंभ में वे सर्वाधित उत्पीड़ित जातियों में गिने जाते थे। आर्थिक दृष्टि से स्वयं उनके बीच उच्च स्थानीय नाडार और निम्न स्थानीय शानार के रूप में अंतर किया जाता था। शानार को अनेक प्रकार की विवशताओं का शिकार बनना पड़ता था। मंदिरों में तो उनका प्रवेश वर्जित ही था। कुएं से वे पानी नहीं भर सकते थे। छाता लेकर चलने, जूता और सोने के गहने पहनने का उन्हें अधिकार नहीं था। गायों का दूध वे नहीं निकाल सकते थे। किन्हीं सड़कों पर उनके चलने की मनाही थी। उनकी औरतों को अपनी छाती ढकने की अनुमति नहीं थी। दरअसल, नाडार जाति के व्यक्ति किसी ब्राह्मण के चौबीस कदम पास तक भी नहीं जा सकते थे।'' तिरुनावेल्ली के उत्तर स्थित क्षेत्रों में बस जाने वाले कुछ शानार परिवारों को और भी अपमानजनक दशाएं झेलनी पड़ीं। गांव के उच्च जातीय हिंदुओं द्वारा प्रयुक्त नाई और धोबी की सेवाओं से भी उन्हें वंचित कर दिया गया था। क्रमशः मुख्य शानार समुदाय के बीचसे व्यापारियों का एक सचल समूह उभरा जो देहाती शराब और गुड़चीनी का व्यापार करता था। 1801 में पोलीगर युद्ध खत्म होने के साथ व्यापारी तथा ताड़ी निकालने वाले दोनों ही उत्तर में मारवाड़ क्षेत्र की ओर बढ़े और ''छे रामनाड नगरों'' में बस गए। लेकिन स्थानीय प्रभुत्वशाली जातियों, मारवाड़ी, तेवर और कल्लार ने उनको निचले, मैले-कुचैले, ताड़ी निकालने वाले शानार के साथ ही जोड़ा। यह आश्चर्य की बात नहीं कि ईसाई धर्म अपनाने की प्रक्रिया को नाडार जाति का उर्वर आधार मिला। इस क्षेत्र में परवर्ती काल में उभरे ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन में स्वभावतः वे सबसे आगे रहे।

28.4 पश्चिमी भारत

भारत के पश्चिमी तटवर्ती इलाकों के ऊपरी भाग, दक्षिण गुजरात में संस्थाबद्ध सामाजिक भेदभाव का एक और विचक्षण उदाहरण मिलता है। आरंभिक उन्नीसवीं सदी के ब्रिटिश अभिलेखों/दस्तावेज़ों से हाली प्रथा के रूप में इसकी जानकारी हमें मिलती है। इस सुगठित व्यवस्था के अंतर्गत निचली दुबला जाति के लोग, सबसे अच्छे और बड़े भूमि-खंडों के मालिक अनाविल ब्राह्मणों के अधीन आजीवन बंधुआ बने रहते थे। किन्हीं क्षेत्रों में ऐसे खेती से जुड़े नौकरों के अंतर्गत कोली, गुलाम कोली, जाति के लोग भी आते थे। इसकी शुरुआत आम तौर पर तब होती थी, जब कोई खेतिहर श्रमिक विवाह करना चाहता था और उसे इसका खर्च उठाने के लिए तैयार कोई मालिक मिल जाता था। इस प्रकार लिया गया ऋण नौकर को जीवन-भर के लिए मालिक के अधीन कर देता था। यह ऋण साल-दर-साल बढ़ता रहता था और इस प्रकार इसकी अदायगी लगभग असंभव हो जाती थी। हाली बेचे नहीं जाते थे, यद्यपि उनको किसी अन्य मालिक की सेवा में लगाया जा सकता था। निचली दुबला जाति पर उच्च जातीय ब्राह्मणों के पारंपरिक प्रभुत्व एक सर्वग्राही शोषण-संबंधों के अधीन और सुदृढ़ हो गया। मालिक का अधिकार न केवल नौकर के श्रम पर, बल्कि घरेलू नौकरी के रूप में उसकी बीवी पर भी हो गया था।

महाराष्ट्र में भी वर्चस्व एवं भेदभाव की भाषा कुछ कम प्रखर नहीं थी। अठारहवीं सदी के मराठा राज्यों के अंतर्गत ब्राह्मण वर्चस्व को पेशवा राजसत्ता से और बल मिला। अधिकारियों द्वारा दस्तकारों एवं घिनौना समझे जाने वाले कार्यों में लगी जातियों के लोगों से जबरिया श्रम कराए जाने की मांग ने मराठा राजनीतिक समुदाय और जाति-व्यवस्था के बीच सुदृढ़ संबंध बना दिया। अठारहवीं सदी के मराठा राज्य के प्रत्यक्ष प्रशासित क्षेत्रों (स्वराज्य) में राज्य ने जाति-आधारित समाज के रीतिगत एवं आर्थिक पहलुओं के बनाए रखने, लागू करने में सक्रिय भूमिका निभाई। 1784 में सरकार ने पंढरपुर के पवित्र स्थानों पर पूजा से संबंधित नियम बनाए जिनमें स्पष्ट कहा गया था कि अछूतों को मुख्य मंदिर के पास बने उनके ही धर्मस्थल तक जाने की अनुमति नहीं है। ''यह स्थान इतना संकरा और भीड़-भाड़ वाला है कि दर्शनार्थी एक दूसरे से रगड़ खाते हैं और ब्राह्मण इस बात के विरुद्ध हैं। इसलिए अछूतों को चोखमेला प्रतिमा के सामने बने पत्थर के दीपक के पास से अथवा निकटस्थ किसी

अछूत झोपड़ी से ही पूजा कार्य करना चाहिए'''।'' एक अन्य विवरण के अनुसार कोंकण क्षेत्र के महरों ने अपरा विवाह-समारोह संपन्न कराने का आग्रह स्थानीय पुरोहितों से किया। स्थानीय अधिकारियों के समर्थन के बावजूद यह मांग कठोरता के साथ ठुकरा दी गई। राज्य का आदेश था कि अछूतों को अपने विवाह अपने ही पुरोहितों से करवाने चाहिए और यह चेतावनी भी दी कि ''भविष्य में ब्राह्मण पुरोहितों को कष्ट देने का कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलेगा।'' दूसरे शब्दों में, मराठा राजसत्ता ने जाति-संबंधों में हस्तक्षेप करते हुए समाज में ब्राह्मण-प्रभुत्व को ही सुनिश्चित बनाया। स्वयं चितपावन ब्राह्मण जाति के बाजीराव द्वितीय ने पूजा में ब्राह्मण विद्वानों को बड़ी धनराशि अर्पित की ताकि वे अपना समय धार्मिक अध्ययन में लगा सकें।

मराठा राज्य के पतन के बाद जब कंपनी ने प्रशासन कार्य संभाला, हिंदू धार्मिक मूल्यों को राज्य के सक्रिय समर्थन से वंचित कर दिया गया। यह तथ्य तत्काल किसी बड़े परिवर्तन का सूचक नहीं बना। जैसे-जैसे कंपनी प्रशासन ने भारतीय समाज में अपनी जड़ें जमाई, उसे भारत के निचले स्तरों के अधीनस्थ समुदायों पर निर्भर करना पड़ा। अपनी पूर्वकाल की शैक्षिक सुविधाओं के कारण उच्च जातियों को कंपनी सरकार तथा पश्चिम भारत समाज के व्यापक तबकों में मध्यस्थ भूमिका मिल गई। इससे समाज में पहले से ही उनकी प्रभुत्वशाली स्थिति को बल मिला। लेकिन अपनी सापेक्षिक जड़ता की स्थिति के कारण निचली जातियां और अछूत मिशनरी प्रचार के लिए समुचित आधार बन गए। उन्नीसवीं सदी के पश्चिम भारतीय क्षेत्रों में मिशनरियों ने जनता को यह समझाने का भरपूर प्रयास किया कि शूद्रों की स्थिति में रखते हुए हिंदू धर्म ने उनको शिक्षा एवं धर्म संबंधी वास्तविक अधिकारों से वंचित कर दिया है। समूची आबादी में अनुपात को देखते हुए प्रशासन में सामान्य रूप से उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों की अधिकता कई गुनी थी। ''पश्चिम भारत समाज में असमानता खत्म करने की बात तो दूर रही, ऐसा लगता था जैसे अंग्रेज़ी राज्य उनको और सुदृढ़ ही बनाएगी, ब्राह्मणों के पारंपरिक धार्मिक प्राधिकार के साथ, प्रशासनिक एवं राजनीतक अधिकारों की समूची श्रृंखला जोड़ते हुए।'' आलोचक दृष्टि वाले ज्योतिबा फुले और उनके अनुयायियों ने यह सहज बोध सामने रखा कि ब्राह्मणों के धार्मिक प्राधिकार एवं उसका आधार बनने वाली ऊंच-नीच की मान्यता का खात्मा ही अछूतों की दशा में किसी वास्तविक परिवर्तन की पूर्वशर्त है।

28.5 उत्तरी तथा पूर्वी भारत

किन्हीं विशेष क्षेत्रों में सामाजिक भेदभाव के उपरोक्त सर्वेक्षण का आशय यह सुझाना नहीं है कि भारत में अन्यत्र समाज के निचले तबकों की दशा भी बेहतर थी। हमारा उद्देश्य प्रभुत्व के कुछ तीखे उदाहरणों को प्रकाश में लाना ही था। बंगाल की चांडाल, बिहार की डोम, दक्षिण बिहार की भुइयां और उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों की चमार जातियों से संबंधित हाल के सर्वेक्षण यह दिखाते हैं कि इन समूहों को किस प्रकार के कठोर भेदभाव का सामना करना पड़ा। पहले चांडाल के रूप में सुपरिचित बंगाल के नामशुद्र उपेक्षित जन-समूहों के अंतर्गत आते थे, जिनको अन्त्यज का निम्न स्तर दिया गया था। नाई, धोबी और कभी-कभी मेहतर भी उनका काम करने से इनकार कर देते थे। सामाजिक प्रीतिभोजों में उनको बाकी लोगों से विशेष दूरी पर बैठना और अपना बर्तन स्वयं साफ करना पड़ता था। इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि शुद्धता-अशुद्धता की कोटि में उनका सबसे निचली स्थिति उच्च जातियों के सापेक्ष उनके निम्न आर्थिक स्तर से संगति में होती थी। दक्षिण-पश्चिमी बंगाल की लोढ़ा जाति के लोगों की भांति मघैया डोमों की भी इस सीमा तक उपेक्षा की गई थी कि अंततः उन्हें ''अपराधी जाति'' घोषित कर दिया गया। भुइयां जाति की वाच्य परंपरा में मुख्यतः ब्राह्मण मालिकों द्वारा उनके उत्पीड़न की स्मृति मिलती है। उनको हिंदू जाति श्रेणी क्रम में अपवित्र जाति के ही रूप में ही शामिल किया गया था। उनके साथ आरंभ में उच्च जातीय मलिकों की सेवा-टहल करने वाले कमिया के रूप में बर्ताव किया गया और अंततः वे बंधुआ मज़दूर की स्थिति में पहुंच गए। चमार, जिनके अंतर्गत मोची भी आते हैं, भारत के प्रत्येक भाग में पाए जाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या उत्तर प्रदेश में और पूर्वी बिहार तथा उत्तर-पश्चिमी पंजाब के सीमावर्ती क्षेत्रों में सबसे अधिक है। ग्रामीण जीवन में उनको अत्यंत पतित स्थान प्राप्त था। अपने पारंपरिक उद्यम के अलावा, उनको अक्सर ज़मींदारों के लिए बेगार सेवा करनी पड़ती थी। निष्कर्ष रूप में हम इस खंड के कुछ मुख्य विचार-बिंदुओं को दुहराएंगे। पहली बात यह कि जाति-व्यवस्था और पारंपरिक संपत्ति अधिकार के बीच घनिष्ठ संबंध था। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि निम्न पारंपरिक स्तर और कठिन जीवन

स्थितियां जुड़ी प्रक्रियाएं थीं। और फिर इस प्रकार के अस्तित्व पर सामाजिक निकृष्टता के कई आवरण थे। दूसरी बात यह कि इनमें से अधिकांश प्रथाओं का इतिहास औपनिवेशिक शासन से पहले का है और उपनिवेशी शासन ने भारत के विभिन्न भागों में अधीनस्थ सामाजिक समूहों की स्थिति में निश्चित परिवर्तनों को जन्म दिया। भारतीय समाज के अपेक्षाकृत अप्रतिस्पर्धी ढांचे का विध्वंस इनमें महत्वपूर्ण था।

बोध प्रश्न 1

1) दक्षिण भारत में मिलने वाले सामाजिक भेदभाव के विविध रूपों के बारे में संक्षेप में लिखिए। 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) "जातिगत भेदभाव को बनाए रखने में राजनीति की सकारात्मक भूमिका है।" पश्चिम भारत में पाई जाने वाली जाति व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए 100 शब्दों में इस वक्तव्य की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

3) निम्न वाक्यों को पढ़कर सही (✓) अथवा गलत (×) के निशान लगाइए :

i) जाति-व्यवस्था के अंतर्गत गतिशीलता संभव नहीं है।

ii) सामाजिक संगठन का पुराना आधार खत्म करके औपनिवेशिक शासन ने सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा दिया।

iii) जाति श्रेणीक्रम में निम्न स्तर के कारण निम्न जातियों को उच्च जातियों के साथ पारंपरिक समारोहों में भाग लेने से वंचित नहीं किया गया।

iv) उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में दक्षिण भारत में कृषि दासता बहुत व्यापक थी।

28.6 औपनिवेशकालीन भारत में निरंतरता एवं परिवर्तन

सिंहावलोक में, अंग्रेज़ी शासन की प्रथम शताब्दी के प्रजनन काल की संज्ञा दी जा सकती है। इस अवधि में दो प्रत्यक्षत अंतर्विरोधपूर्ण विकास-क्रम सामने आ रहे थे। भारत के विभिन्न भागों में अनेकानेक रूपों में विद्यमान सामाजिक भेदभाव को पुनर्जीवन मिला था। उच्च जातीय अभिजात जनों ने अनेक प्रकार से अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। किन्हीं इलाकों में आरंभिक पराजय के बाद उन्होंने नई राजस्व प्रणाली के साथ समायोजन कर लिया। अपनी व्यवहार कुशलता से उन्होंने प्रशासनिक एवं राजनीतिक सत्ता के लिए नये अवसरों का बेधड़क प्रयोग किया। उच्च शिक्षा स्तर ने उन्हें नए शासन के लिए अत्यंत उपयोगी बना दिया था। आंग्लो-इंडियन कानूनों तथा अदालतों से उनके अधिकाधिक परिचय ने अधीनस्थ निचली जातियों की तुलना में उनको लाभकारी स्थिति में ला दिया। अदालतों की भाषा में दक्षता प्राप्त करने वालों के लिए नए अवसर हमेशा खुले थे। अंततः भारतवासियों के संभावित मामलों में हस्तक्षेप न करने के अंग्रेज़ों के सतर्क रूझान ने इस संभावना को क्षीण कर दिया कि राज्य सत्ता द्वारा समर्थित कानूनी अथवा किसी अन्य साधना से समाज में कोई व्यापक परिवर्तन हो सके।

लेकिन इसी काल में एक भिन्न प्रकार का विकासक्रम भी सामने आ रहा था जिसने समयांतर में उच्च जाति के अभिजातों के पारंपरिक एवं सामाजिक प्रभुत्व को क्षीण करना शुरू किया। जाति-व्यवस्था के बीच के स्तरों पर गतिशीलता तो बनी रही, लेकिन शीर्ष एवं सबसे नीचे के स्तर अप्रभावित रहे। उच्च स्तरों की ओर गतिशीलता की संभावना बिल्कुल खत्म नहीं हुई। इस तथ्य ने समूची व्यवस्था को एक विशेष शक्ति एवं स्फूर्ति प्रदान की।

बहरहाल, यह दिलचस्प बात है कि अंग्रेज़ी शासन के प्रथम सदीकाल में निचले तबके भी गतिशील होने लगे। सामाजिक एवं पारंपरिक प्रभुत्व के जिन कुछ मुहावरों का आभ्यंतरीकरण परंपरा के प्रभावों के अधीन तबकों ने कर लिया था, उनके सामने प्रश्नचिह्न लगाए जाने लगे। आरंभ में निश्चय ही प्रभुत्वशाली उच्च जातियों का विरोधभाव सामने आया। लेकिन भेदभाव की जातिगत व्यवस्था का भौतिक आधार बदलने लगा। ग्रामीण स्तरों पर बाज़ार शक्तियों के प्रभावी होने से किन्हीं क्षेत्रों में कुछ नए अवसर बने जो उद्यम-आधारित जाति-व्यवस्था के विपरीत थे। कुछ क्षेत्रों में तो पराधीन जातियों के लिए ज़मींदार, तालुक्कार अथवा काश्तकारों के रूप में उभरना संभव था। उनमें से अधिकांश की प्रवृत्ति अपने आचार-विचार के ''संस्कृतीकरण'' की थी। यह संकेत किया जा चुका है कि संस्कृतीकरण के प्रतीक अपनाने को उच्च जातियों की भोंडी नकल ही नहीं माना जाना चाहिए। इसका अर्थ उच्च जातियों की बपौती समझे जाने वाले किन्हीं प्रतीकों व आचार-संहिताओं का अभिग्रहण भी था। कुछ समुदायों के बीच मिशनरी क्रियाकलापों ने शिक्षा और फलस्वरूप भौतिक प्रगति की नई संभावनाएं भी रखीं। बदलते परिप्रेक्ष्य में श्रेणीक्रम-विभाजित समाज की विचारधारा, विश्वसनीय नहीं हो सकती थी, विशेषकर समाजिक भेदभाव के शिकार जनसमुदाय में। एक नई चेतना के विकास के संकेत भी मिलने लगे थे, जिसके फलस्वरूप पहले जिस चीज को ''कर्तव्य'' माना जाता था, अब उसे ''प्रवंचन'' के रूप में देखा जाने लगा।

28.7 नव संचेतना : क्षेत्रीय उदाहरण

इस नई चेतना की अभिव्यक्ति एक जटिल प्रक्रिया है और इसलिए इसे किन्हीं सरलीकृत सूत्रों में समेटना संभव नहीं है। किन्हीं जाति-समूहों के बीच संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति के विकास का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। कुछ अन्य समूह ऐसे थे, जिनको ईसाई धर्म अपने अस्थिर अस्तित्व की वास्तविकताओं से उबरने का साधन प्रतीत होता था। त्रावणकोर में शिक्षा एवं ईसाई धर्म के प्रचार ने नाडार जाति के लोगों को नायर ज़मींदारों के प्रभुत्व की पीड़ाओं से मुक्ति की आशा दी थी। ईसाई नाडार और मिशनरियों के दबावों के जवाब में सरकार ने 1829 में एक घोषणा की जिसके अनुसार देशी ईसाई महिलाओं को सीरियाई ईसाई तथा मोपला मुस्लिम महिलाओं की तरह ही अपना वक्ष ढंकने की अनुमति दी गई थी। इसके फलस्वरूप प्रसिद्ध ''ब्रेस्ट क्लाथ कंट्रोवर्सी'' उठ खड़ी हुई, जिसकी अंतिम परिणति 1869 की राजकीय घोषणा में हुई।

दलित वर्गों के बीच गुलामी का तमगा उतार फेंकने के लिए किया गया पहला प्रमुख आंदोलन इसे माना गया है। लेकिन उन क्षेत्रों में और सामाजिक समूहों में, जिनके बीच धर्म-परिवर्तन का प्रयास बहुत सफल नहीं रहा था, हिंदू सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध मिशनरियों का तर्क अनेकानेक स्वदेशी सुधारकों के विचारों में भी विद्यमान था। और फिर, कुछ भारतीय सुधारकों द्वारा हिंदू समाज की समीक्षा की मानवतावादी अंतर्वस्तु ने सामान्य सामाजिक चेतना का स्तर भी उठाया। लेकिन ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण बात थी कुछ निचले जाति समूहों द्वारा स्वयं अपनी दशा सुधारने के लिए सचेतन प्रयास। यद्यपि वैसे अधिकांश प्रयास इस इकाई की सीमा के परे हैं, तो भी कुछ आरंभिक संकेतों को अंकित किया जा सकता है। अभिव्यक्ति रूप और लामबंदी की दृष्टि से क्षेत्रीय विभिन्नताओं के बावजूद कुछ सामान्य विशेषताएं उनकी थीं। किन्हीं पराधीन जातियों के अपेक्षाकृत संपन्न समूह अपनी बिरादरी के सामाजिक व्यवहार को निश्चित करने में आगे आए। ऐसा करने के बाद उन्होंने उच्चतर कर्मकांडीय स्तर का दावा करना शुरू किया, जिसका ऊंची जातियों ने विरोध किया। इस मंज़िल पर ही संभावित जातीय संघर्ष का आधार तैयार हो सका। अक्सर किन्हीं संप्रदायों को जातीय एकजुटता को बढ़ावा देने और इस प्रकार संगठन की प्रक्रिया में सहायक होते पाया जा सकता है। चुनावी राजनीति के क्रमिक प्रवर्तन और उन्नीसवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश से जनगणना की शुरुआत ने निचली जातियों के आंदोलन को विशेष राजनीतिक रंग दे दिया।

बंगाल के नामशूद्रों के एक संपन्न तबके ने, जिसके अंतर्गत मुख्यत: भूस्वामी एवं धनी किसान आते थे, अपनी जाति के व्यवहारों का संस्कृतीकरण शुरू किया गया और अपने उच्चतर स्तर पर बल दिया। इसको उच्च जातियों ने स्वभावत: कुंठित करने का प्रयास किया। इस प्रतिघात से विचलित न होते हुए नामशूद्र नेताओं ने ऊंची जातियों के सामाजिक प्राधिकार को चुनौती दी, मटुआ संप्रदायक के अंतर्गत सजातीयों का संगठन किया और विरोध प्रदर्शन की नीति अपनाई। दिलचस्प बात है कि ऊंची जातियों के प्राधिकार को चुनौती देते समय नामशूद्र अंग्रेज़ी राज के प्रति निष्ठा की अभिव्यक्ति बड़े उल्लास के साथ करते थे। शीघ्र ही नामशूद्रों का विद्रोह विशिष्ट रूप से "अलगाववादी" रूझान अपनाने लगा। तमिलनाडु में रामनाड के नाडारों के ऊपरी बनिया तबके ने "सद्भाव कोष" का गठन किया जिसका प्रयोग इस समुदाय के कल्याण हेतु किया जाता था। उन्होंने अपनी जीवन विधिक का संस्कृतीकरण भी शुरू किया और अपने आपको उच्च क्षत्रिय स्तर का मानने लगे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक वे इतने शक्तिशाली हो गए थे कि उन्होंने मंदिर प्रवेश संबंधी पाबंदी को चुनौती दी और 1895 में जबरन शिवकाशी मंदिर में घुस गए। इसके कारण उन पर बदले की कारवाइयां हुई और मामला अंतत: अदालत में पहुंचा। यद्यपि फैसला नाडारों के विरुद्ध हुआ, उनको पर्याप्त सामाजिक सहानुभूति मिली। इसके अलावा, मुकदमेबाज़ी और निरंतर दंगों के चलते सांप्रदायिक एकजुटता की भावना भी उभरी। वर्तमान सदी में इस एकजुटता के अच्छे परिणाम निकले। त्रावणकोर में निचली इरावा जाति को ऊंची जातियों के प्रभुत्व के अधीन बहुत लंबे समय तक रहना पड़ा था। उन्नीसवीं सदी के अंत तक ऐसे शिक्षित युवकों की एक बड़ी संख्या उभर कर आई, जो अपने साथ होने वाले बर्ताव से गहरे असंतुष्ट थे। नारायण गुरु और एस.एन.डी.पी. योगम से प्रभावित इरावा जाति के लोगों ने मंदिर-प्रवेश के मसले को समूचे समुदाय के संगठित करने का आधार बना दिया। महाराष्ट्र के महरों ने अन्य कई जातियों की भांति अपने क्षत्रिय पद का दावा किया और सरकार से अपने साथ विशेष अनुकूल बर्ताव की मांग की। उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में वे स्वयं को गोपाल बाबा वालंगकर के अधीन संगठित करने लगे और अंतत: अंबेदकर द्वारा चलाए गए आंदोलन में केंद्रीय समूह की भूमिका निभाई।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय समाज व्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन ने क्या प्रभाव छोड़ा? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

2) विभिन्न प्रवंचित समूहों ने जाति श्रेणीक्रम में ऊपर आने के लिए कैसे प्रयास किए? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

28.8 सारांश

बीसवीं सदी के आरंभ में जाति-आधारित समाज व्यवस्था अनिश्चित भविष्य की दहलीज पर थी। यद्यपि सामाजिक भेदभाव का अंत अभी इतनी जल्दी नहीं देखा जा सकता था, पुराने अंतर्जातिक समीकरणों की पुर्नस्थापना के प्रयासों में बहुत देर हो चुकी थी। भारत के विभिन्न

भागों में पराधीन जातियां बहुविधा विवशताओं से मुक्ति के लिए छटपटा रही थीं। लेकिन अन्य क्षेत्रों में कुछ ऐसे लोग थे, जिन्होंने व्यवस्था के अंतर्गत अपनी स्थिति की मूलभूत पुनर्परिभाषा के आधार पर अपनी स्वतंत्र पहचान बनानी शुरू कर दी थी। इस प्रक्रिया में, निचली जाति के आंदोलनों में जातीय अस्मिता सर्वाधिक प्रभावी संगठनिक बिंदु बन गई। आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए।

28.9 शब्दावली

श्रेणीक्रमबद्ध विभाजन : शुद्धता-सदोषता के आधार पर उच्च, मध्यम, निम्न इत्यादि विभिन्न पदानुक्रमों पर रखे जाने वाले विविध सामाजिक समूहों में भारतीय समाज के विभाजन को स्पष्ट करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

जजमानी प्रथा : यह गांव के विभिन्न जाति समूहों के बीच आर्थिक, सामाजिक एवं कर्मकांडीय संबंधों की व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अंतर्गत कुछ जातियों को संरक्षक तथा कुछ को सेवक का स्तर मिला है।

संस्कृतीकरण : जाति श्रेणीक्रम में ऊपर आने के लिए निचली जातियों द्वारा ऊंची जातियों के सामाजिक एवं धार्मिक व्यवहारों का अपनाया जाना।

सामाजिक संचरण : सामाजिक श्रेणी क्रम के अंतर्गत किसी भी सामाजिक समूह द्वारा अपनी स्थिति में परिवर्तन।

28.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आपका उत्तर खेतिहर श्रमिकों की शोचनीय स्थिति, निचली जातियों पर आरोपित विविध सामाजिक विवशताओं इत्यादि पर केंद्रित होना चाहिए। देखिए भाग 28.3

   आपको यह बताना है कि उच्च जातियों के प्रभुत्व को राज्यसत्ता का समर्थन कैसे प्राप्त था; समाज में ब्राह्मण वर्चस्व को मराठा राजनीतिक समुदाय ने कैसे सुनिश्चित किया, इत्यादि। देखिए भाग 28.4

3) i) × ii) ✓ iii) × iv) ✓

बोध प्रश्न 2

1) आपके उत्तर में इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि औपनिवेशिक शासन किस प्रकार एक ओर तो जाति व्यवस्था की निरंतरता में सहायक हुआ और दूसरी ओर उसने ऊपर की ओर सामाजिक संचरण के अवसर प्रदान किए। देखिए भाग 28.6
2) आपको जातीय आधारों पर प्रवंचित समूहों द्वारा लामबंदी की प्रक्रिया के बारे में लिखना है और यह बताना है कि सामाजिक-कर्मकांडीय सुधारों के माध्यम से किस प्रकार उन्होंने जाति श्रेणीक्रम में ऊपर आने का प्रयास किया। देखिए भाग 28.7

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

Kenneth W. Jones: *The New Cambridge History of India. III, I, Socio-Religious Reform Movements in British India.*

S.G. Malik (ed.): *Dissent, Protest, and Reforms in Indian Civilization.*

David Kopf: *British Orientalism and the Bengal Renaissance, the Dynamics of Indian Moaernization, 1773-1835.*

Robert L. Hardgrave: *The Nadars of Tamilnadu : The Political Culture of a Community in Change.*

Sekhar Bandyopadhyay : *Bengal: 1872-1937 Caste, Politics and Raj.*